

राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन. सी. ई. आर. टी.) ने 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या' पर एक दस्तावेज बहस के लिए जारी किया है। 'शिक्षा-विमर्श' को इस बहस के मंच से संबद्ध करना हमने प्रासंगिक माना है और देश के कई ख्यात शिक्षाविदों से उक्त दस्तावेज पर टिप्पणी देने के लिए आग्रह किया है। यह दुखद प्रसंग है कि अंग्रेजी जगत में इस दस्तावेज पर जैसी चर्चा है, हिन्दी क्षेत्र उसकी झलक भी नहीं है।

यह कैसी विडम्बना है कि उक्त दस्तावेज शिक्षाक्रम को राष्ट्रीय, मूल्यपरक और देशज चरित्र प्रदान करने का संकल्प व्यक्त करता है और उस पर बहस अंग्रेजी में चल रही है। बहरहाल अपनी सीमाओं के चलते हम इस पर बहस की शुरुआत कर रहे हैं।

दो दुनिया अलग अलग

□ शिल्पा जैन

अनुवाद : निर्मल मिश्रा

शिक्षा का अर्थ क्या है? इसका सीधा-सीधा मतलब है अक्षर ज्ञान। यह केवल एक उपकरण है जिसे सदुपयोग में भी लाया जा सकता है और दुरुपयोग में भी। वही उपकरण जो किसी रोगी की जान बचा सकता है, किसी के जान लेने का कारण भी बन सकता है। यही सब कुछ अक्षर ज्ञान से भी हो सकता है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि अधिकतर लोग इसका अनुचित इस्तेमाल करते हैं। जबकि कुछ थोड़े से लोग इसका सही उपयोग भी करते हैं। और यदि यह सत्य है तो यह भी सच है कि इसके द्वारा जितना लोगों को नुकसान पहुंचाया गया है उतना उन्हें फायदा नहीं हुआ है।

यद्यपि गांधीजी का स्वाधीन भारत की शिक्षा का प्रमाणिक मसविदा (प्रस्ताव) 1937 में वर्धा में आयोजित अ. भा. राष्ट्रीय शैक्षिक सम्मेलन से निकलकर आया लेकिन शिक्षा के बारे में उनकी परिकल्पना और मान्यता के विवरण 'हिन्द स्वराज' के विभिन्न अंकों में तथा 'हरिजन' और 'यंग इंडिया' में अलग अलग समयों पर प्रकाशित लेखों में पढ़ने को मिल जाते हैं। इन सबको पढ़ने के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गांधीजी के शिक्षा संबंधी विचार जीवन्त संदर्भों और राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संघर्षों से कटे हुए नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गांधी जी के शिक्षा संबंधी प्रमुख सिद्धांतों को वास्तव में समझने के लिए पाठक को इन्हें उनके सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक रूपान्तरण के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। उनके द्वारा प्रगति, विकास और मानव जीवन को पुनः परिभाषित करने, परंपरा को पुनर्जीवन देने और स्वराज की

कल्पना को रूपाकार देने की मौलिक दृष्टि में देखना होगा। यदि इन व्यापकतर संदर्भ बिन्दुओं को अपने मस्तिष्क में रखकर उनके विचारों की समीक्षा नहीं की जाती है तो गांधीजी की 'बुनियादी तालीम' की उस व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम के रूप में गलत व्याख्या की जा सकती है, जिस का मकसद मात्र ऐसे कौशल को सीखना होता है जिससे स्थानीय अर्थ व्यवस्था को चालू रखा जा सके। इसके अतिरिक्त गांधीजी की नई तालीम को ठीक तरह से जानने के लिए यह भी अपेक्षित है कि हम साध्य और साधनों के बीच के रिश्तों और पारस्परिक सहमतियों को भी आत्मसात् कर लें।

इसके विपरीत नेशनल कौंसिल फॉर एज्यूकेशन रिसर्च एन्ड ट्रेनिंग (एनसीइआरटी) द्वारा तैयार किया गया विद्यालयी शिक्षा का राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का प्रारूप शिक्षा को अनिवार्यतः यथास्थिति बनाये रखने, उसे मजबूत करने और विस्तृत बनाने का माध्यम मानकर चलता है। दुनिया पर हावी विकास और प्रगति की अवधारणा, जिसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो प्रचलित व्यवस्था को यह यथावत बनाये रखना चाहता है। शिक्षा क्या है? यह 'सीखने' से किन अर्थों में अलग है? एक अच्छा मनुष्य कौन है? किन बातों को हम वास्तव में जीवन में महत्व देते हैं? किस तरह की दुनिया में हम रहना चाहते हैं? जैसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर तलाशने की इसमें कोई कोशिश नहीं की गई है। क्योंकि इसके निर्माता इन प्रश्नों के पुराने ही उत्तरों से संतुष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि गांधी जी को सारे दस्तावेज में बार बार उद्धृत किया गया है लेकिन इसमें उल्लेखित विषय वस्तु का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर पता लगता है कि उनके विचारों की इससे कोई संगति नहीं है, न ही उन्हें

लेखकों ने आत्मसात् करने की कोशिश ही की है। इस छोटे से निबंध में मैं गांधीजी की शिक्षा विषयक अवधारणा की एनसीइआरटी के इस तथाकथित नवीनतम उद्यम से वैचारिक विसंगतियों को प्रकाश में लाने की कोशिश करूंगी।

गांधीजी की शिक्षा संबंधी परिकल्पना दो विशिष्ट स्रोतों से निकल कर आई है - 1. उनकी ब्रिटिश पद्धति की स्कूली व्यवस्था की समालोचना से तथा 2. उनकी 'स्वराज' संबंधी मान्यता से। दोनों एक दूसरी को स्पष्ट करती नजर आती हैं। खासतौर पर शिक्षा के सरोकार, सीखने की भूमिकाओं और रिश्तों की प्रकृति और सीखने की प्रक्रियाओं के बारे में वे एक दूसरे की मान्यताओं का स्पष्ट रूप से मंडन करती हैं। यद्यपि हममें से अधिकतर लोग यह भलीभांति जानते हैं फिर भी मुझे यह बात अधिक महत्वपूर्ण लगती है कि गांधीजी की ब्रिटिश पद्धति की स्कूली व्यवस्था की समालोचना दो कारणों से पुनः संगति बैठाने की अपेक्षा करती है। पहला, इसका अधिकतम अंश आज इतना अधिक प्रासंगिक हो गया है जितना लगभग एक सदी पहले नहीं था। शिक्षा के इस मॉडल को हमारे राजनैतिक कुलीन वर्ग ने पूरी तरह से आजादी के बाद न केवल अपना लिया बल्कि इसे व्यापकता भी प्रदान कर दी और आज हम अपने चारों ओर इसकी परिणतियों/प्रभावों को देख रहे हैं। दूसरा और संभवतः अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि यह समालोचना हमें शिक्षा के इर्द-गिर्द जुड़े उन मुद्दों और सवालियों की याद दिलाती है जिनसे हम आजादी के संघर्ष के दौरान तो मुठभेड़ कर ही रहे थे आज भी उनसे हम वैश्वीकरण, उदारिकरण तथा तकनीकी एकाधिकारीकरण आदि के रूप में रूबरू हैं।

गांधीजी की ब्रिटिश पद्धति वाली शिक्षा के प्रति जो संपूर्ण घृणा थी, स्पष्टतः वह उस ब्रिटिश मॉडल के उस विकास से प्रस्फुटित हुई थी (जो आज सर्वत्र प्रभावी है) जो लूट और विनाश/तबाही पर आधारित था/ है। उन्होंने बार बार यह बात जोर देकर दुहराई कि ऐसी संस्कृति जो लालच, प्रभुत्व, शक्ति, और विनाश पर अमादा हो किसी का भला नहीं कर सकती तथा वे सरकारी स्कूल जिन्होंने हमें कायर, असहाय और देवत्वविहीन बना दिया है और असंतोष से भर दिया है किसी का भला नहीं कर सकते। (यंग इंडिया - 1 जून 1924) बदकिस्मती से इन स्कूलों के उत्पाद-क्लर्क, दुभाषिये और अनुकरणकर्ता -(नकलची) और

भी अधिक खतरनाक हैं। जैसा प्रारंभिक उद्घरण में वर्णन किया गया था 'शिक्षित भारतीय' अपने ही लोगों को अधिक गुलाम बना रहे हैं। आडंबर और निर्दयता बढ़ रही है तथा वे अपने भाइयों को भी धोखा देने और आतंकित करने से नहीं चूक रहे हैं। (हिन्द स्वराज पृ. 80) इससे भी अधिक घातक बात यह है कि इस शिक्षा व्यवस्था ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा को बौना बना दिया है। (यंग इंडिया - 27 अप्रैल 1921) इसने हम भारतीयों के अस्तित्व/जीवन की निरन्तरता को छिन्न भिन्न कर दिया है। वे बच्चे जो इन स्कूलों में से होकर गुजरते हैं अपने परिवारों, धर्म और यहां तक कि ईश्वर/देवी शक्ति की भी अवज्ञा करने लग जाते हैं। (यंग इंडिया-20 मार्च 1924)। ऐसे आस्था विहीन और जड़ों से उखड़े लोग उस दुनिया में जहां 'स्वराज' के लिए एक लंबा संघर्ष करना पड़ता हो, उसमें भी कैसे शामिल हो सकते हैं ?

गांधीजी ने दरअसल इस संघर्ष को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना और इसके जरिये 'स्वराज' को नींव से ही पुख्ता बनाने की कल्पना की। उन्होंने

'स्वराज' को परिभाषित करते हुए इसे हर तरह की गुलामी से मुक्ति/आजादी माना। उन्होंने इसे दो कोणों से देखा- एक, स्पष्ट रूप से बाहरी गुलामी से मुक्ति और दूसरा जिसे लोगों ने कम पहचाना, हमारी अपनी कृत्रिम आवश्यकताओं से छुटकारा। (हरिजन - 10 मार्च, 1946) ये दोनों कोण गांधीजी की समझ की मुख्य आधारशिला हैं और उनके शिक्षा संबंधी सोच के अन्य आयाम इन दोनों के बीच सामंजस्य से उद्घाटित होते हैं। उदाहरण के लिए इसी विश्वास से शिक्षा से संबंधित दूसरा सरोकार प्रस्फुटित होता है जिसे कहते हैं चरित्र का परिष्करण। चरित्र में वे सत्यवादिता, निडरता, नम्रता, अपरिग्रह और दूसरी आवश्यक विशेषताओं और एक मनुष्य के उन मूल्यों को जो 'स्वराज' की भावना को उभारते हैं शामिल करते हैं। (कैरेक्टर एण्ड नेशन बिल्डिंग - 1946) चरित्र निर्माण की प्रक्रिया से 'स्वराज' के लिए शिक्षा पदानुक्रमों (हायरार्कीज) की प्रचलित किलेबंदी को जिसमें शारीरिक श्रम से बौद्धिक कर्म, निर्धन से अमीर, ग्रामवासी से शहरी, स्वदेशी से पश्चिमी तथा मनुष्य से मशीन को अधिक महत्ता प्राप्त है, ध्वस्त करेगी। यह श्रम, निर्धन, ग्रामवासी, स्वदेशी तथा मनुष्य की प्रतिष्ठा को पुनः वापिस दिलायेगी। ऐसी शिक्षा भारतीय मस्तिष्क को, विशेषकर उन भारतीय अभिजनों

गांधीजी की शिक्षा संबंधी परिकल्पना दो विशिष्ट स्रोतों से निकल कर आई है - 1. उनकी ब्रिटिश पद्धति की स्कूली व्यवस्था की समालोचना से तथा 2. उनकी 'स्वराज' संबंधी मान्यता से। दोनों एक दूसरी को स्पष्ट करती नजर आती हैं। खासतौर पर शिक्षा के सरोकार, सीखने की भूमिकाओं और रिश्तों की प्रकृति और सीखने की प्रक्रियाओं के बारे में वे एक दूसरे की मान्यताओं का स्पष्ट रूप से मंडन करती हैं।

के मस्तिष्क को, जो, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है अपने ही लोगों पर जुल्म कर रहे थे और अब भी कर रहे हैं और इस प्रकार 'स्वराज' की प्रक्रिया को विकलांग बना रहे हैं, के विउपनिवेशीकरण का रास्ता सरल बनायेगी। इस प्रकार गांधी जी मानते थे कि शिक्षा से प्राप्त ज्ञान मानव जाति की सेवा के लिये अनिवार्यतः उपयोगी होना चाहिये। उसे हम लोगों को हर स्तर पर होने वाले अन्याय के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिए काबिल बनाना चाहिये और इसका निकास व विकास हमारी अपनी संस्कृतियों, जीवन, विरासत और मूल्यों आदि से होना चाहिये।

यदि 'स्वराज' शिक्षा का उद्देश्य था/है तो स्पष्टतः गांधीजी की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं में 'स्वराज' एक ऐसा विचार होना चाहिये जिसमें सीखने की भूमिकाएं व रिश्ते अन्तर्निहित/व्याप्त हों। इस प्रकार शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच परस्पर एवं निजी रूप में आत्मनिर्भरता और अन्योन्याश्रयिता कायम होनी चाहिये। अध्यापक परंपरागत अर्थ में पढ़ाएंगे नहीं बल्कि हर बच्चे को उसके सीखने की प्रक्रिया में सहायता प्रदान करेंगे। वे बच्चों से इतने आत्मीय/हार्दिक संबंध स्थापित करेंगे कि स्वतः/ उनके प्यारे अभिभावक बन जायें और इस तरह इस बात को पहचान लें कि वे भी चरित्र निर्माण की एक प्रक्रिया को सीखने में लगे हैं। इसी तरह बच्चों को पर्याप्त 'अनुशासित स्वतंत्रता' मिलेगी जिससे वे अपने लिये खुलेपन के साथ सोच सकेंगे और तदनुसार कुछ कर सकेंगे। और इसके साथ साथ वे अपने में नम्रता और आत्मानुशासन की भावना को पल्लवित कर सकेंगे। (यंग इंडिया - 3 जून 1926) आखिरकार गांधीजी की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं के संबंध और भूमिकाएं आश्रमों में रहने वाले उन समुदायों व परिवारों से मिलते जुलते हैं जो समग्रतः जनतांत्रिक जीवन, जिसे गांधीजी 'स्वराज' कहते हैं, का अनुपालन करते थे। साथ साथ स्वेच्छा से गरीबी में रहना, एक प्रकार का सादा जीवन बिताना भी गांधीजी के अनुसार शिक्षा का ही एक भाग था क्योंकि इससे भौतिक, कृत्रिम आवश्यकताओं से अधिकतम छुटकारा मिलता था। और यह एक सामंजस्यपूर्ण और समेकित रूप से जीने और होने की अच्छाई और उसके प्रति सम्मान को प्रदर्शित करता है। (इसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रभुत्व नहीं होता) उल्लेखनीय है कि 'स्वराज' के लिए इस शिक्षा की आवश्यकताओं में केन्द्रीकृत राज्य और बिचौलियों व योजना निर्माताओं के लिये कोई स्थान नहीं था।

भूमिकाओं और संबंधों की तरह गांधीजी ने सीखने की प्रक्रियाओं की जिस रूप में वकालत की थी वे भी 'स्वराज' के इस लक्ष्य से ही प्रादुर्भूत हुई थी। 'आत्म' का सामूहिक तथा निजी रूप से पुनः अन्वेषण और पुनर्जनन करना 'स्वराज्य' के लिए बहुत आवश्यक था। वास्तव में व्यक्ति के अपने उन इतिहासों, भाषाओं,

ज्ञानों, मूल्यों, जो भारत की हर बस्ती/इलाके में सुलभ थे, पुनर्जीवन प्रदान किये बिना 'स्वराज' की भावना को पूरी तरह से रूपाकार नहीं दिया जा सकता। स्पष्टतः परीक्षाओं के पास होने के लिये पाठ्य पुस्तकों में दी गई सामग्री के उत्तरों को रट लेने से उपयुक्त सीखने की प्रक्रियाओं का कोई लाभ नहीं हो सकता। इसकी बजाय सीखने की प्रक्रियाओं का दो परस्पर संबद्ध संसाधनों पर जोर देना जरूरी है। इनमें पहली है - स्थानीय भाषाएं। इनका अध्ययन अंग्रेजी बनाम हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी बनाम कोई भी भारतीय बोली से अधिक आवश्यक होना चाहिये। गांधीजी की अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों की समालोचना को एक ओर रखने पर हम साफतौर से यह पाते हैं कि वे 'स्वराज' के पुनः अन्वेषण और पुनर्जनन के लिए भाषा को एक सर्वोच्च महत्व का माध्यम मानते थे। सचाई यह भी है कि अंग्रेजी ने भारत की मौलिकता लूटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उस पर अधिकार पाने के लिये अनावश्यक जोर डाला गया है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह सचाई है कि इसने हमारी भाषाओं की बढ़त को अवरुद्ध ही नहीं किया है बल्कि उन्हें अपने ही घरों से निर्वासित भी कर दिया है। (विद गांधी इन सीलोन, पृ. 106)। भाषा और घर, भाषा और विकास या भाषा और आत्मा के बीच यह जो जीवन रेखा गांधीजी ने देखी थी इसी ने उन्हें शिक्षा को स्थानीय भाषा के माध्यम से देने के लिये प्रेरणा दी थी।

दूसरा, 'स्वराज' के लिए सीखने का माध्यम था काम - हाथ का काम जैसे खादी बुनना या किसी हस्त शिल्प का काम। स्पष्ट रूप से इस तरह का काम व्यक्ति को बाहरी प्रभुता से छुटकारा दिलाता है क्योंकि इस तरह पैदा हुई आय उसकी आत्मनिर्भरता के दायरे को बढ़ाती है। लेकिन इससे भी आश्चर्यजनक विशेषता इस काम की यह है कि इसे एक भाषा के रूप में भी लिया जा सकता है क्योंकि यह लोगों को, उनकी संकीर्ण पहचानों की सीमाओं को तोड़ते हुए, एक दूसरे से बांधता है। इस तरह यह 'स्वराज' के अग्रदूत होने की भूमिका का निर्वाह करता है। जब लोग एक सामान्य भाषा बोल रहे होते हैं, तब उनमें एक साझे सरोकार के लिये एकता पैदा होती है वे अस्वाभाविक जरूरतों को लेकर बंटे हुए नहीं होते। इस तरह की एकता ही 'स्वराज' के लिए आवश्यक होती है। इस प्रकार गांधीजी के लिए काम कभी केवल आय पैदा करने का ही माध्यम नहीं रहा बल्कि वे तो इसे 'स्वराज' की आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावात्मक और भौतिक संतृप्ति का साधन मानते थे। यह स्पष्ट कर देना फिर भी बहुत जरूरी है कि गांधी जी ने कभी ऐसे काम की सिफारिश नहीं की जिसकी प्रकृति शोषण परस्त हो। पर वे यह मापदण्ड केवल बच्चों के लिये ही नहीं हर एक के लिये रखते थे और इस तरह बच्चों समेत हर एक के लिए

श्रम की गरिमा वापिस लाना चाहते थे । पुनः अन्वेषण और पुनर्जनन की समग्र सीखने की प्रक्रियाओं में यह काम एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । इससे न केवल स्वकारकता बल्कि सामूहिक संभावना की आशा भी विकसित होती है ।

यह पृष्ठभूमि देने के बाद गांधीजी की नई तालीम की परिकल्पना और एनसीईआरटी की इस राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के बीच का विपर्यास (कन्ट्रास्ट) पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है । यह रूपरेखा न तो वर्तमान स्कूली व्यवस्था के मॉडल के गुणावगुणों का परीक्षण करती है और न ही यह 'स्वराज' में स्थापित भारतीय जीवन और अस्तित्व के स्वप्न के साथ किसी प्रकार की संगति बैठाती है। इसके विपरीत यह निश्चित रूप से एक खास तरह के भौतिक दृष्टिकोण, एक खास तरह के यथार्थ का परिप्रेक्ष्य तथा एक खास तरह के विकास के स्वप्न से स्वयं को जोड़ती है । उसका यह भौतिक दृष्टिकोण पहले पृष्ठ के पहले पैराग्राफ के पहले वाक्य में ही देखने को मिल जाता है- "मनुष्य एक ऐसी, सकारात्मक परिसम्पत्ति और ऐसा कीमती राष्ट्रीय संसाधन है जिसका पालन और विकास पूरी कोमलता, गतिशीलता व सावधानी के साथ किया जाना चाहिये ।" यहां शिक्षा उस मनुष्य को

विकसित करना चाहती है जो एक राष्ट्रीय परिसम्पत्ति या संसाधन है और जिससे राष्ट्र का भला होने वाला है। यह शब्दावली यह अर्थ देती है कि मनुष्य एक ऐसे कोयले के टुकड़े से थोड़ा सा बड़ा है जिसे राष्ट्र राज्य बाजार बनाने की प्रक्रिया के लिये और राष्ट्र की मोटर को ऊर्जा देने के लिये जलाना और अर्थ व्यवस्था की भलाई के लिये समुन्नत करना जरूरी समझता है । 'स्वराज' की गांधीजी की परिकल्पना से यह मान्यता कितनी दूर है इसे सुधी पाठक स्वयं समझ सकते हैं । (फिर भी विडंबना यह है कि इसे भारतीय चिन्तन की एक पद्धति कहकर प्रचारित किया जा रहा है ।)

दुर्भाग्य से कुछ छोटी मोटी गलतियों के बावजूद यह दस्तावेज स्पष्ट शब्दों में यह कहने के लिए सामने नहीं आता कि इस शिक्षा

पद्धति का यह खास उद्देश्य है या वह यह चाहती है । इसकी बजाय यह अपना भौतिक दृष्टिकोण बहुत ही रंग बिरंगी, लच्छेदार भाषा

दुर्भाग्य से कुछ छोटी मोटी गलतियों के बावजूद यह दस्तावेज स्पष्ट शब्दों में यह कहने के लिए सामने नहीं आता कि इस शिक्षा पद्धति का यह खास उद्देश्य है या वह यह अपना भौतिक दृष्टिकोण बहुत ही रंग बिरंगी, लच्छेदार भाषा की आड लेकर प्रकट करता है । ऐसी शब्दावली का प्रयोग करता है जिसके विरोध की आशा नहीं की जा सकती, जैसे -

रचनात्मकतावादी, आजीवन सीखना, सौन्दर्यबोधात्मक समझ, मूल्य शिक्षा, स्वदेशजनित ज्ञान, समानता, आदि । लेकिन इन शब्दों के प्रयोग के पीछे छिपी विसंगतियों के प्रकट होने में देर नहीं लगती । यह रूपरेखा निजी और सामूहिक 'स्वराज' के लिए कितना कम और यथास्थिति बनाये रखने के लिए कितना अधिक प्रयत्नशील है, इसका पता लगाना कोई मुश्किल काम नहीं है ।

की आड लेकर प्रकट करता है । ऐसी शब्दावली का प्रयोग करता है जिसके विरोध की आशा नहीं की जा सकती, जैसे - रचनात्मकतावादी, आजीवन सीखना, सौन्दर्यबोधात्मक समझ, मूल्य शिक्षा, स्वदेशजनित ज्ञान, समानता, आदि। लेकिन इन शब्दों के प्रयोग के पीछे छिपी विसंगतियों के प्रकट होने में देर नहीं लगती। यह रूपरेखा निजी और सामूहिक 'स्वराज' के लिए कितना कम और यथास्थिति बनाये रखने के लिए कितना अधिक प्रयत्नशील है, इसका पता लगाना कोई मुश्किल काम नहीं है। विसंगतियां क्योंकि संख्या में बहुत अधिक हैं इसलिए मैं कुछ ऐसी सर्वाधिक कटु और बाध्यकारी विसंगतियों पर ही प्रकाश डालूंगी जो गांधी जी की शिक्षा की परिकल्पना के बिल्कुल विपरीत जाती हैं।

सीखने की भूमिकाओं और संबंधों का जितना कठोर विपर्यास (कन्ट्रास्ट) भाग 5 में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । गांधीजी जहां शिक्षा को केन्द्रीकृत राज्य से, मध्यस्थों से और योजना निर्माताओं के चंगुल से मुक्त रखना चाहते थे वहीं यह प्रारूप पूरी तरह शिक्षा के हर स्तर पर पकड़ बनाये

रखकर वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को यथावत् बनाये रखना चाहता है और ऐसा सुनिश्चित करने के लिये यह एनसीईआरटी को तो बनाये रखना व उसके काम जारी रखने का अनुमोदन करता ही है, इसके साथ साथ सीबीएसई, आईसीएसई, डीआईईटी तथा एसआईई जैसी संस्थाओं को भी कायम रखना चाहता है ताकि ये शिक्षण सामग्री के पैकेज तैयार करते रहें तथा शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य जारी रख सकें । प्रारूप के अनुसार राष्ट्र, राज्य और जिला स्तरों पर शिक्षा मंत्रालय और बोर्ड नीतियों का निर्माण और संयोजन करेंगे, उचित प्रशासन और क्रियान्वयन को सुनिश्चित करेंगे और परीक्षाओं का संचालन करेंगे । आधारभूत सुविधाओं का पता लगाने और मानवीय व भौतिक संसाधनों की कमियों की तुरंत पूर्ति के लिए, खास खास समस्याओं में हस्तक्षेप करने के लिये शिक्षा का परिवीक्षण और

मूल्यांकन करने के लिए और सरकार तथा समुदाय के बीच सामंजस्य बनाये रखने के लिये नेटवर्क और टास्क फोर्स बनाये व तैनात किये जायेंगे। संक्षेप में बात यह है कि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था को मिटाने या बदलने की बजाय इसे बनाये रखने और अधिक मजबूत बनाने के लिये भरसक प्रयत्न किये जायेंगे। यद्यपि विकेन्द्रीकरण के बारे में बातें पहले की तरह की जाती रहेंगी। इसी तरह स्वयं सीखने, स्थानीय समुदाय से सहयोग लेने आदि की घोषणाओं का उचित रीति से उल्लेख किया गया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि अध्यापक ही, जो प्रमुखतः एक सरकारी नौकर होता है, शिक्षण, विषयवस्तु एवं कार्यक्रम आदि से संबंधित निर्णय लेने का अधिकारी होगा।

यह प्रारूप सीखने की प्रक्रियाओं के गांधीजी के स्वप्न के बिल्कुल प्रतिकूल अपने सुझाव रखता है। स्थानीय भाषाओं के बारे में एनसीईआरटी पुनः द्विर्थक बात करती है। एक ओर तो यह गांधीजी को इस बात के लिए उद्धृत करती है कि अंग्रेजी ने परायापन या अलगाव पैदा किया है लेकिन दूसरी ओर पहले से भी छोटी कक्षा अर्थात् तीसरी से अंग्रेजी का शिक्षण चालू करने के आदेश देती है। (नेशनल करीकुलम फ्रेमवर्क पृ. 36 तथा पृ. 64) इसी तरह यह दस्तावेज देशज ज्ञान के उपयोग की भी सिफारिश करता है लेकिन यह इस ज्ञान को अलग अलग तथ्यों में विभाजित कर देता है और दुनिया में जानने, जीने तथा होने को एक समग्र पद्धति के रूप में पहचानने में नाकामयाब रहता है। इससे भी अधिक खतरनाक बात यह है कि यह दस्तावेज अपनी पाठ्यचर्या में देशज ज्ञान को प्रकट करने में तो पूरी तरह से असफल रहता ही है पश्चिमी विज्ञान को सर्वोच्चता की पादपीठ पर एक बार फिर स्थापित कर देता है। प्रारूप यह सिफारिश करता है कि, हमारे बच्चे हमारी पुरानी संस्थाओं और पद्धतियों, जो हमारी संस्कृति, धर्मों, रीति रिवाजों और धार्मिक सिद्धांतों से संबद्ध हों, के बारे में सवाल उठाने और उनकी जांच परख करने के लिए वैज्ञानिक विश्व दृष्टि का प्रयोग करना सीखें ताकि वे अज्ञान, पूर्वाग्रह और अंधविश्वासों से छुटकारा पा सकें। (नेशन. करी. फ्रेम. पृ. 49) यह विज्ञान के आधिपत्य को पहचानने में तो असफल रहता ही है, यह देख पाता है कि यह भी अन्य पद्धतियों की तरह ही एक पद्धति है, एक ऐसी ज्ञान की पद्धति जो स्वयं अपने अज्ञान, पूर्वाग्रह तथा अंधविश्वास से परिपूर्ण है।

जैसे यह गांधीजी के भाषा संबंधी विचारों की जड़ खोदता है, वैसे ही उनके हाथ के काम या शारीरिक श्रम की अवधारणा को भी क्षति पहुंचाता है। यह कर्म शिक्षा, कला शिक्षा और स्वास्थ्य अथवा शारीरिक शिक्षा को एक ही शिक्षा में समाहित कर इनके लिये जितनी कालावधि निर्धारित करता है, वह इस दस्तावेज

के प्रारंभ में बताई गई तीनों की महत्ता की तुलना में बहुत कम बैठता है। लगता है 'हाथ के काम' के गांधी जी के सिद्धान्त को इसमें गहराई से समझा ही नहीं गया है। इसीलिये अपनी सतही समझ की वजह से इसे व्यावसायिक शिक्षा या जीविका हेतु प्रशिक्षण के बराबर में रख दिया गया है और इस तरह की शिक्षा को मानवशक्ति बनाने तथा उत्पादन शीलता बढ़ाने का माध्यम घोषित किया गया है जो भारत के आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है। वास्तव में यह श्रम की महत्ता को बढ़ाने के बहाने आर्थिक विकास की बात करता है अर्थात् यह मानता है कि श्रम की महत्ता बढ़ाने के परिणामस्वरूप होने वाले राष्ट्रीय विकास से बेरोजगारी कम हो जायेगी। (नेशन. करी. फ्रेम. पृ. 80)

अत्याधुनिक सीखने की प्रक्रियाओं में भी विरोधाभास दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए देखें - एनसीईआरटी बिना किसी अपवाद के न्यूनतम अधिगम स्तर (मिनिमम लेवलस आफ लर्निंग) परीक्षाओं, भाषा, गणित और विज्ञान की एक मानकीकृत पाठ्यचर्या को सृजनात्मकता, बहुआयामी प्रज्ञा, भावात्मक प्रज्ञा, सामाजिक अन्त/ क्रिया, अनुभव आधारित शिक्षा एवं संज्ञानात्मक विकास के संप्रत्ययों के सामने रखती है जबकि ये सारे संप्रत्यय न्यूनतम अधिगम स्तर, परीक्षाओं और मानकीकृत पाठ्यचर्या के विचार के पूरी तरह से प्रतिकूल होते हैं। यदि कोई वास्तव में जानने, देखने, होने और अर्थ लगाने की विभिन्न प्रक्रियाओं का आकलन करे और समझे तो सीखने के परिणामों/निष्कर्षों के कौशलों को क्रमबद्ध करने या श्रेणीबद्ध करने की बात को संहिता बद्ध करने का प्रस्ताव कर ही नहीं सकता अथवा इस तरह के संहिताकरण को राष्ट्रीय परीक्षा में मापने की बात सोच ही नहीं सकता। (नेशन. करी. फ्रेम. पृ. 26) न ही कोई इस बात पर जोर दे सकता है कि सुन्दर हस्तलेख, सही वर्तनी और मौन पठन की सही आदत कक्षा एक व दो से ही विकसित करने की शुरुआत कर दी जानी चाहिये। (नेशन. करी. फ्रेम. पृ. 40)

प्रारूप यह भी कहता है कि पाठ्यचर्या को पाठ्य पुस्तकों के उपयोग से प्रासंगिक बनाया जा सकता है लेकिन कोई प्रासंगिकता के अन्तर्निहित तात्पर्य को ही नहीं समझे तो उसके लिये यह सारा उपक्रम निरर्थक साबित हो सकता है। यद्यपि स्तरीकृत पाठ्यपुस्तकों का यह विचार प्रारूप के इस वक्तव्य से पूरी सहमति रखता है कि विद्यालयी शिक्षा की इस राष्ट्रीय व्यवस्था ने एकरूपता और गुणवत्ता के स्तरों को बनाये रखा है। परंतु अगले ही पृष्ठ पर यह अपनी ही स्थापना का खंडन करता दिखाई देता है। इसमें एक ऐसी पाठ्यचर्या की बात की गई है जो निष्पक्षता, प्रासंगिकता और श्रेष्ठता के तीन स्तंभों पर खड़ी हो। पर प्रसंग तो भिन्न-भिन्न होते

हैं अर्थात् जैसे मूल्य परंपराएं, विश्वास, भाषाएं जलवायु, संस्कृतियां और पर्यावरण भारत जैसे विशाल और विविधतामय देश में सर्वत्र एक जैसे हो ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में इन तीन स्तंभों को कैसे स्थान स्थान के लिये एक समान पभाषित किया जा सकता है तथा उनका अभ्यास किया जा सकता है, यह बात विचारणीय है। इस तरह की भिन्नताओं के अनुरूप अभ्यास करने के बारे में न तो पाठ्य पुस्तकें कुछ प्रकाश डालती हैं और न राष्ट्रीय व्यवस्था ही कुछ कहती हैं।

प्रारूप का वह अंश विशेष रूप से दृष्टव्य है जहां यह बहुत थोड़ी देर के लिए अपनी भाषा से हटकर निश्चित शब्दों में यथा स्थिति को बनाये रखने के प्रति अपनी पूरी प्रतिबद्धता प्रकट करता है तथा गांधीजी जिन पदानुक्रमों (हायरार्कीज) को ध्वस्त करना चाहते थे उन्हें न केवल बनाये रखने बल्कि मजबूत करने की बात कहता है। तीन ऐसे शानदार उदाहरण इसमें ये दिये जा सकते हैं। पहला, वर्ग आधारित सामाजिक स्तरीकरण को-कुलीन लोगों का सामान्य लोगों पर, अमीरों का गरीबों पर और कुर्सी मेज वाली नौकरियों का हाथों के काम पर-उच्चता के दर्शन को पुनः पुष्ट करता है। यह कहता है -

“तृतीय स्तर तक बहुत कम लोग पहुंच पायेंगे और उन्हीं लोगों के हाथों में नेतृत्व होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक स्तर पर कार्यरत दूसरे या मध्यवर्ती श्रेणी का नेतृत्व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्राप्त समूह (उत्पाद) ही करेगा। संगठित क्षेत्रों में 15 प्रतिशत के आसपास वेतन वाले रोजगार उपलब्ध हैं और वर्तमान स्थिति में इसमें पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की कोई आशा नहीं है। इसलिये इस स्तर के उत्पादों को प्राथमिक ज्ञान कौशल, दृष्टिकोणों और उद्यमवृत्ति आदि में पूरी तरह से तैयार किया जाना चाहिये जिससे वे अपने आपको स्वरोजगार के योग्य पा सकें।” (नेश. करी. फ्रेम. पृ.67)

इसी तरह प्रारूप ने सफलता की असफलता पर तथा शिक्षित की अशिक्षित पर श्रेष्ठता को बनाये रखा है। अध्यापकों द्वारा तथा कथित सतत मूल्यांकन के दौरान अलग अलग श्रेणी के छात्रों के साथ अलग अलग तरह से व्यवहार करने का प्रावधान इस प्रारूप में है। इससे छात्रों को तत्परतापूर्वक उत्तम, सामान्य तथा कमजोर श्रेणी में रखा तथा तदनुसार निदान दिया जा सकता है। (नेश. करी. फ्रेम. पृ. 90)

तीसरा उदाहरण, यह दस्तावेज पहले से चली आ रही बौद्धिक वर्ग की श्रमजीवियों पर श्रेष्ठता के विचार को भी परिपुष्ट करता है और उसी के तहत उच्चतर माध्यमिक कक्षा में उन्हें अकादमिक व व्यावसायिक धाराओं में बांट देता है। उच्च और मध्यम श्रेणी पाने वाले छात्र पहली धारा में तथा शेष बचे छात्र दूसरी धारा में तैरते हैं। (यदि वे तैरें ही) यद्यपि प्रारूप इन दोनों धाराओं को

अलग अलग करके भी इन्हें बराबर मानने की बात कहता है लेकिन यह सचाई किसी से छिपी नहीं है कि अकादमिक धारा व्यावसायिक धारा से लाभों में और ताकत में बहुत बहुत आगे रहती है। स्वयं यह प्रारूप ही इसकी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये कहता है कि अकादमिक वर्ग में वह अर्न्तदृष्टि, ज्ञान और रचनात्मक सोचने की योग्यता होनी चाहिये जिसके बूते पर वह उस समाज की बदलती मांगों का मुकाबला कर सके जो विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सूचना शास्त्र का उपयोग गरीबी मिटाने और आम लोगों के जीवन की गुणवत्ता को ऊंचा उठाने के लिये प्रतिबद्ध हो चुका है। (नेश. करी. फ्रेम. पृ.72) दूसरी ओर व्यावसायिक शिक्षा अपनी सहायता स्वयं करने, आत्म निर्भर होने, उद्योगी बनने और उद्यमिता वृत्ति

अपनाने के लिए युवकों को तैयार करती है जो आगे चलकर स्वरोजगार चलाने के अलावा वेतन वाली नौकरी पाने के भी योग्य बन जाते हैं। (नेश. करी. फ्रेम. पृ. 80) बौद्धिक और श्रमजीवी वर्ग का यह सुस्पष्ट विभाजन जनसंख्या के एक छोटे से वर्ग को सोचने और रचना करने का काम देता है और अधिसंख्य लोगों को श्रम करके जीने के लिए तैयार करता है। इसी विसंगति ने आज देश के सामने एक गंभीर संकट पैदा कर दिया है। एनसीईआरटी को इस तरह का विभाजन जारी रखना है जिसमें सोचने और करने का मूल्य बराबर नहीं होता और न ही इन्हें आर्थिक रूप से जोड़ने का यह कोई उपाय करती है। इस दुनिया में सोचने वालों (विचारकों) ने जितना नुकसान किया है उतना काम करने वालों ने नहीं। यह स्थिति हमारे लिए अनिष्टकारी तो है ही अविवेकपूर्ण भी है।

सारांश यह कि सारा प्रारूप उस औपचारिक विद्यालयी व्यवस्था को, जिसे भरपूर सुविधाएं मिली हुई हैं, स्थायी व सशक्त बनाने की कोशिश करता है, जिसके विरुद्ध गांधीजी आजीवन निरपवाद रूप से लड़ते रहे। एनसीईआरटी ऐसे अनुशासनों में

सचाई यह है कि यह दस्तावेज गांधीजी को नौ बार उद्धृत करे या नौ हजार बार, इससे तब तक कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है जब तक यह इस तरह के सवालों से नजरें चुराता रहेगा और कुरूप सचाइयों को फूलों भरी शब्दावली से ढकता रहेगा। इस तरह यह लगभग 150 साल पहले लार्ड मैकाले द्वारा प्रवर्तित स्कूली व्यवस्था की त्रासदी को ही दुहराता रहेगा। एनसीईआरटी द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गांधीजी का नाम लेना जारी रखना एक ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता।

दुनिया को विभाजित करने की मान्यता को पुनः पुष्ट करती है जैसे बुद्धिजीवी बनाम श्रमजीवी, अभिजन, मध्यवर्ग बनाम निम्न या सामान्य वर्ग, एक समानता बनाम स्तरीकरण। इस विभाजन से सारा शैक्षिक उपक्रम न केवल प्रभावित है बल्कि उसे यथावत् बनाये रखने के लिए समर्थित भी है। सर्वाधिक खेदजनक बात यह है कि एनसीईआरटी इस तरह के वास्तविक प्रश्नों को उठाने में असफल रही है जैसे - हमारी विकास, प्रगति और सफलता की अवधारणा क्या है? उसमें लोगों के लिए वह स्थान कहां है जहां वे अपने उन मूल्यों को परिभाषित कर सकें जिनके सहारे वे अपने संदर्भ को समझ लें तथा जीने और सीखने के अवसरों को पुनः प्राप्त करने व पैदा करने में समर्थ हो सकें? जातीय संघर्षों, सीमा

संबंधी विवादों तथा हिन्दुत्व जैसे मसलों के रहते “राष्ट्रीय अस्मिता” के संप्रत्यय का क्या अर्थ है? व्यक्तिगत और सामूहिक मानवशक्ति के लिए हमारे पास क्या आशा और क्या कार्य क्षेत्र है? सचाई यह है कि यह दस्तावेज गांधीजी को नौ बार उदृत करे या नौ हजार बार, इससे तब तक कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है, जब तक यह इस तरह के सवालों से नजरें चुराता रहेगा और कुरूप सचाइयों को फूलों भरी शब्दावली से ढकता रहेगा। इस तरह यह लगभग 150 साल पहले लार्ड मैकाले द्वारा प्रवर्तित स्कूली व्यवस्था की त्रासदी को ही दुहराता रहेगा। एनसीईआरटी द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गांधीजी का नाम लेना जारी रखना एक ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता।◆

बच्चे क्या पढ़ें कौन निर्णय करे ?

□ सुरेश पण्डित

मुख्य बिन्दु पर चर्चा करने से पहले कुछ फुटकर बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा :-

(1) सदियों पहले प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार विलियम शेक्सपीयर ने ‘मर्चेन्ट ऑफ वेनिस’ में अप्रतिम खलनायक शाइलॉक की अपने बचाव में प्रदर्शित वाक्पटुता पर प्रहार करते हुए लिखा था कि शैतान भी अपना पक्ष प्रबल करने के लिए पवित्र मंत्रों का इस्तेमाल कर लेते हैं। एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित दस्तावेज - ‘विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या’ का अध्ययन करते हुए जब जब इसमें मैंने महात्मा गांधी के विचारों वाले उद्धरणों को पढ़ा मुझे शेक्सपीयर की वह उक्ति न जाने क्यों याद आती रही। हम अपनी बात कहते हुए किसी की उक्तियों का सहारा तब लेते हैं जब हमें लगता है कि इससे हमारी बात की वैधता बढ़ जायेगी तथा वह अधिक असरकारी हो जायेगी। पर यहाँ, दस्तावेज में उनका बार बार उद्धृत किया जाना विपरीत प्रभाव छोड़ता है क्योंकि प्रस्तुत तथ्यों और उक्तियों में कहीं दूर दूर तक कोई तालमेल दिखाई नहीं देता।

(2) अपनी बात को जोरदार बनाने के लिए किसी महान् व्यक्ति के विचारों को उद्धृत करना कोई गलत बात नहीं है। लेकिन आपके कथन में और उस महान् व्यक्ति के सिद्धांत में यदि जमीन आसमान का अंतर हो, आपकी उसके सिद्धांत से सहमति हो ही नहीं, फिर भी अपनी बात को जबर्दस्ती वैधता दिलाने के लिये आप उस महान् व्यक्ति के किन्हीं इतर प्रसंगों में व्यक्त विचारों

को मोड़ तोड़कर उनसे अपना पक्ष समर्थित करने की कोशिश करें तो इसे निश्चय ही जायज नहीं माना सकता।

(3) इस दस्तावेज की प्रस्तावना में इसे पाठ्यचर्या का प्रारूप माना गया है और इसे तैयार करने से पहले जिन कार्य नीतियों की प्रक्रिया से गुजरा गया है उसका विवरण भी दिया गया है। साथ ही पाठ्यचर्या निर्माण को एक महत्वपूर्ण कार्य मानते हुए इस पर आम सहमति कायम करने हेतु जो प्रयास किये जायेंगे उनका उल्लेख भी किया गया है। लगता है इस कार्य में अधिकतम लोगों की राय जानने और उन्हें यथासंभव समाहित करने का प्रयास किया जायेगा। पर यही प्रस्तावना लोगों की विशाल स्तर पर ली जाने वाली सहभागिता के प्रयासों की पोल भी खोल देती है। इसके तीसरे अनुच्छेद की पहली पंक्तियां ही प्रकट करती हैं कि यह दस्तावेज कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों में तैयार किया गया है। दस्तावेज के उस प्रारूप को तैयार करने में बहुत लंबा समय इस कारण नहीं लगाया जा सकता था कि यदि इसमें और अधिक समय लगाया जाता तो पाठ्यक्रम के चिर अपेक्षित नवीकरण और पाठ्य पुस्तकों के नवसृजन का काम और अधिक पिछड़ जाता। खेद है उन अपरिहार्य परिस्थितियों का, जिनकी वजह से इतनी हड़बड़ी में यह प्रारूप बना लिया गया, कहीं कोई खुलासा नहीं किया गया है। इससे समझदार लोगों का यह शंका करना स्वाभाविक हो जाता है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय का यह निर्देश था कि इसे जल्दी से जल्दी तैयार किया जाय ताकि अगले सत्र से लागू किया जा सके। यदि यह सच

है तो यह भी सच है कि इसके बारे में कोई विस्तार से विचार विमर्श नहीं किया गया। कुछ लोगों ने ऊपरी निर्देशों का पालन करते हुए इसे तैयार कर दिया और चूंकि अब पाठ्यक्रम के नवीकरण और पाठ्य पुस्तकों के नवलेखन की जल्दी है इसलिये इस प्रारूप के संशोधन-संवर्धन में लोगों की भागीदारी भी मात्र औपचारिकता निर्वाह हेतु ही होगी अथवा नहीं भी होगी।

(4) पर पाठ्यचर्या का निर्माण और तदनुसार पाठ्यक्रम की रचना व पुस्तकों का लेखन क्या इतनी तेजी से इतने उतावलेपन में होना चाहिये? जिस काम से करोड़ों छात्रों का भविष्य बनने/बिगड़ने वाला हो, करोड़ों अभिभावकों की आशाएं फलीभूत/निष्फल होने वाली हों, और जो कम से कम अगले पांच सालों तक न बदला जाने वाला हो, उस काम को ऐसी अफरा तफरी में निबटा देना क्या उचित है? इसका निर्णय सुधी पाठक स्वयं कर सकते हैं। पर इस सारी प्रक्रिया का सबसे कष्टदायी पहलू यह है कि पाठ्यचर्या समूह के वे माननीय सदस्य जो निश्चय ही चोटी के शिक्षाविद् होंगे और पाठ्यचर्या के महत्व और उसके निर्माण की प्रक्रिया से भी भली भांति परिचित होंगे, वे कैसे मंत्री महोदय की इच्छा और मंत्रालयिक अधिकारियों के इस तरह के निर्देशों को मानने के लिए न केवल तैयार हो गये बल्कि प्रारूप तैयार कर देने में भी उन्होंने देर नहीं लगाई? जबकि उन्हें मंत्री और मंत्रालयिक अधिकारियों की पाठ्यचर्या निर्माण संबंधी समझ का तो अंदाजा रहा ही होगा।

उपरोक्त तथ्यों को पृष्ठभूमि में रखते हुए जब पाठ्यचर्या के मुख्य बिन्दुओं पर विचार करते हैं तो जगह जगह विसंगतियों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से रूबरू होना पड़ता है। अध्याय एक की शुरुआत गांधीजी के 1 दिसंबर 1933 के 'हरिजन' में प्रकाशित लेख के एक ऐसे उद्धरण से होती है जिसमें वे सूचना प्रधान शिक्षा की बजाय सृजनशीलता की शिक्षा पर बल देते हैं और मनुष्य को यंत्र बनाने की बजाय मौलिक रचनाकार बनाने का आग्रह करते हैं। ठीक इसके नीचे की पंक्ति में बताया गया है कि भारतीय चिन्तन पद्धति में मानव एक उपयोगी पूंजी और मूल्यवान राष्ट्रीय संसाधन है। अफसोस है भारतीय चिन्तन और गांधीजी ने मनुष्य को कभी पूंजी या संसाधन के रूप में नहीं देखा। दोनों ही इसे निर्माता व नियंता मानते हैं। पूंजी या संसाधन आज की

दृष्टि में कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, इस्तेमाल किये जाने वाले उपकरण मात्र हैं जबकि मनुष्य मननशील है, विचारवान है, इसलिये उपयोग की वस्तु नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद का हवाला देकर यह बताया गया है कि वैदिक काल में 18 विषयों का अध्ययन करवाया जाता था। इस तथ्य को जाहिर है नकारा नहीं जा सकता। पर सवाल यह है कि इस तरह की सर्वतोमुखी शिक्षा दी किसको या कितनों को जाती थी, इसे जानबूझकर गोपनीय रखा गया है। दूसरी बात इतने सारे विषयों का ज्ञान मनुष्य को मानसिक रूप से समृद्ध करने के लिये दिया जाता था न कि किसी व्यवसाय विशेष में कुशल बनाने हेतु। व्यवसाय वंश परंपरागत ही होते थे और उनका तकनीकी ज्ञान व व्यावहारिक अभ्यास व्यक्ति को अपने माता-पिता अथवा सजातीय, सवर्ण जानकारों से ही लेना होता था।

‘पाठ्यचर्या का विकास : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य’ नामक बिन्दु के अन्तर्गत विद्यार्थियों को क्या पढ़ाया जाना चाहिये, इसका निश्चय कौन करे के शाश्वत प्रश्न को उठाते हुए स्वतंत्रता से

पहले इसके बारे में निर्णय के अधिकार को औपनिवेशिक शासकों और उनके अधिकारियों के पास होने की बात कही गई है। कुछ हद तक यह बात सच है पर यह भी सच है कि ब्रिटिश काल में भी देसी रियासतें, डी.ए.वी. सनातन धर्म, रामकृष्ण मिशन आदि की संस्थाएं क्या पढ़ाया जाये इसका निर्णय अपने हाथों में रखती थीं और बुनियादी तालीम तो ब्रिटिश शिक्षा पद्धति का एक स्वदेशी विकल्प थी ही।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का क्रियान्वयन 1986 के बाद से शुरू हुआ और इसका पुनरीक्षण 1992 में किया गया। आचार्य राममूर्ति के नेतृत्व में गठित इस पुनरीक्षण समिति ने तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूल अवधारणाओं पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिये थे। फिर भी प्रस्तुत दस्तावेज इन दोनों के बुनियादी दर्शन को अपना मार्गदर्शक मानता है और उसे बरकरार रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शाता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आधार पर 1988 में बनी ‘प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या: एक रूपरेखा’ का अब तक पुनरीक्षण नहीं हुआ था इसलिये उक्त दस्तावेज इसी ओर उठाया गया एक कदम है। स्पष्ट है कि यह कदम इसलिये

नहीं उठाया गया है कि वह पाठ्यचर्या अप्रासंगिक हो चली थी या उसकी उपयोगिता चुक गई थी या उसे अधुनातन (अपडेट) करना जरूरी हो गया था बल्कि इसलिये उठाया गया है कि इस बहाने एक राजनैतिक दल अपनी विचारधारा जहां जहां संभव हो, घुसा सके। यदि ऐसा न होता तो निश्चय ही इसका प्रारूप काफी क्रान्तिकारी परिवर्तन लिए हुए होता। पर ऐसा कहीं हुआ दिखाई नहीं देता।

पाठ्यचर्या के अपेक्षित सरोकारों की चर्चा करते हुए दस्तावेज इस बात पर जोर देता है कि इसे असमानताओं को कम करने और विद्यालयों की सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये। अर्थात् प्रासंगिकता, समानता और उत्कृष्टता पर आधारित होना चाहिये। आगे चलकर इसी प्रसंग में कहा गया है कि शिक्षा की प्रक्रिया और विषय इस ढंग से तैयार किये जायें जो देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रकृति के अनुरूप हों। इतना पढ़ने के बाद पाठ्यचर्या के अवधारणात्मक अंतर्विरोधों व समझ की विसंगतियों को पकड़ पाना सामान्य पाठक के लिए आसान हो जाता है। पहली बात शिक्षा की प्रक्रिया और विषयों में असमानता को कम करने की है। पाठ्यचर्या का संगठन प्रस्तावित करते हुए कहीं भी यह प्रारूप इसमें किसी नई पहल का उल्लेख नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि यह शिक्षा के वर्तमान ढांचे को यथावत् रखने पर सहमत है। पर यह ढांचा तो विषमता के अनेकों स्तर पैदा करने वाला है और ये स्तर वैयक्तिक सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक असमानता को साफ साफ प्रदर्शित करते हैं। अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र सरकारी शिक्षण संस्थाएं निजी विद्यालय मिशनरी स्कूल (कान्वेंट) और पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों में किस स्तर की समानता है, क्या इससे कोई अनजान है? एक तरफ बिना मूलभूत या न्यूनतम आवश्यकताओं वाले विद्यालय हैं तो दूसरी तरफ सर्व सुविधायुक्त आधुनिकतम उपकरण सज्जित वातानुकूलित विद्यालय हैं। भला इन दोनों तरह के विद्यालयों के छात्रों में कैसे समानता लाने की बात की जा सकती है। जहां तक विषयों के माध्यम से ऐसी जानकारी देने की बात है जो असमानता दूर करती हो उस ओर भी दस्तावेज ने कोई मौलिक सुझाव नहीं दिये हैं। यह बात पाठ्य पुस्तकों में भिन्न भिन्न तरह से लिख देने या शिक्षकों द्वारा पढ़ा देने से समानता नहीं आ जाती कि हम सब भारतीय एक समान हैं, लड़का, लड़की में कोई अंतर नहीं है, जाति या वर्ण से कोई ऊंचा नीचा नहीं होता आदि। इसी तरह शारीरिक परिश्रम और बौद्धिक काम को भी समान बनाने की कोई पहल इसमें नहीं है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी तो आज के समाज में धर्मशास्त्रों से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है। मानविकी के विषय फालतू हो गये हैं। इन सब बातों की ओर ध्यान देते हुए शिक्षा प्रक्रिया और पाठ्य विषयवस्तु को प्रासंगिकता, समानता

और उत्कृष्टता पर आधारित करने की सदिच्छा कहीं ईमानदारी से फलीभूत होती नहीं दिखाई गई है।

हां, जिन दो बातों की ओर यह दस्तावेज विशेष ध्यान देता है, वे हैं - (1) राष्ट्रीय पहचान का सुदृढीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण तथा (2) स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के योगदान को समाकलित करना। लगता है इनका समावेश करवाने और इनके अनुसार पाठ्य सामग्री का पुनर्निर्माण करवाने के इरादों से ही इस पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण की आवश्यकता महसूस हुई, इसका कारण भी स्पष्ट है। पिछली सरकारों को इनमें जब कोई भी कमी नजर आई उन्होंने संशोधन कर लिये; मूल ढांचे से छेड़छाड़ नहीं की। पर मौजूदा सरकार को जहां तहां के छोटे मोटे परिवर्तनों से अपने निहित उद्देश्य सफल होते दिखाई नहीं दिये। इसलिये इसने यह काम करना आवश्यक समझा। आश्चर्य है संविधान समीक्षा के लिए तो बाकायदा एक आयोग गठित किया गया है जिसमें सभी तरह के लोगों को रखने की कोशिश की गई है और उसके पक्ष-विपक्ष में बहस अभी तक चालू है। सरकार को बार बार यह कहना पड़ रहा है कि संविधान के मूल ढांचे से छेड़छाड़ नहीं की जायेगी। पर इसे जहां तहां के छोटे मोटे परिवर्तनों से अपने निहित उद्देश्य सफल होते दिखाई नहीं दिये। इसलिये इसने यह काम करना आवश्यक आवश्यक समझा। पर विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण का काम गोपनीय तरीके से 'यस बोस' की मानसिकता वाले शिक्षाविदों से इसलिये करवा लिया गया क्योंकि यदि इसे अधिक जनतांत्रिक तरीके से करवाया गया होता तो, प्रारूप तो इसमें निश्चय ही बेहतर बन जाता लेकिन सरकारी मनसूबे पूरे नहीं होते।

बहरहाल आइये देखें इन दोनों उद्देश्यों को लेकर दस्तावेज निर्माताओं की क्या मान्यता है। पहली राष्ट्रीय पहचान के सुदृढीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण के अन्तर्गत इसमें लिखा गया है कि परिवर्तनोन्मुखी प्रौद्योगिकियों तथा देश की सांस्कृतिक परंपरा की निरन्तरता के बीच सुन्दर संश्लेषण लाया जाना चाहिये। एक ओर शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो भूमंडलीय व्यवस्था को प्रोत्साहन देने में सहायक हो तो दूसरी ओर ऐसी राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एकता का विकास करने में सहायक हो जो हमारी राष्ट्रीय पहचान के लिये आवश्यक समझे जाते हैं। इस संदर्भ में गौरतलब बात यह है कि राष्ट्रीयता को अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस्तेमाल करने वाले लोग जब अपने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को वैश्वीकरण का मूल उत्स घोषित करते हैं तो उनके भोलेपन या आत्ममुग्धता पर तरस आता है। वैश्वीकरण का पहला काम राष्ट्रीय सीमाओं को ध्वस्त करना, उनकी अलग पहचान को

मिटाना तथा सांस्कृतिक सामाजिक विविधताओं को नष्ट कर एक ऐसे संस्कृति वाले समाज को स्थापित करना है जो विशुद्ध रूप से भौतिक समृद्धि तथा उपभोग की प्रचुरता की ओर अग्रसर हो। जाहिर है ऐसी स्थिति में भूमंडलीकरण और राष्ट्रीयता की अवधारणा दोनों साथ साथ नहीं चल सकते। हम अपनी शिक्षा द्वारा एक ओर वैश्वीकरण की बंधन विहीन और पारगामी प्रक्रिया के अंग भी बनना चाहते हैं और राष्ट्रीयता की सीमाओं को बरकरार भी रखना चाहते हैं यह भला कैसे संभव है। दरअसल आज के संदर्भ में राष्ट्र एक समस्यामूलक अवधारणा बन गया है। क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से जहां यह भाषा, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता आदि के एक समान होने की कोशिश करता है वहीं आम लोग अपनी बहुभाषिकता, भूभाग विविधता, सांस्कृतिक, सामाजिक विभिन्नता को बनाये रखने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय पहचान की बात करना एक वर्ग, समुदाय विशेष के वर्चस्व को स्वीकृति देने के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

दूसरी बात- 'स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के ज्ञान को समाकलित करना' के अंतर्गत कहा गया है कि शिक्षा प्रासंगिक और सार्थक हो तो हमें उसे छात्र की सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों के साथ जोड़ना होगा। एक-स्वदेशी पाठ्यचर्या श्री अरविंद, गांधी, टैगोर तथा कृष्णमूर्ति जैसे कुछेक प्राचीन चिन्तकों के विचारों को प्रसार करेगी। परन्तु इसके शिक्षा संबंधी विचार और प्रयोग तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के फ्रेमवर्क और प्रस्तुत प्रारूप से बिल्कुल अलग हैं। ये लोग तो अपने अपने तरीके से श्रम, सौन्दर्य (कला) और अध्यात्म केन्द्रित शिक्षण के बल पर व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाने की बात करते हैं। उपभोग को सीमित, भौतिकता को मर्यादित, विज्ञान को मानवोन्मुख और विकास को व्यक्ति केन्द्रित करने की वकालत करते हैं। फिर इनके सिद्धांतों से भूमंडलीकरण के लिए अपेक्षित व्यवसायोन्मुख शिक्षा का तालमेल भला कैसे बैठ सकता है, हां केवल उनके विचारों की जानकारी ही देनी हो तो बात अलग है। पर लगता है इस तरह के विरोधाभासों को लेखकों ने जानबूझकर खारिज कर दिया है क्योंकि इनका उद्देश्य अपनी मान्यताओं को समाविष्ट करने का है। वे चाहे इस दांचे में फिट बैठें या न बैठें, इससे इनका कोई मतलब नहीं है।

आगे कहा गया है 'जहां बच्चों को न्यूटन के बारे में तो पता है, वहां स्वयं अपने आर्यभट्ट के बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं है। उन्हें कम्प्यूटर का ज्ञान तो अवश्य है लेकिन वे शून्य की अवधारणा से अवगत नहीं हैं। इसे दस्तावेज लेखक एक दुखद स्थिति मानते हैं।' पर सवाल यह है कि इन बातों की यहां प्रासंगिकता क्या है? आर्यभट्ट या शून्य की अवधारणा के बिना भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में कोई कमी महसूस नहीं की जा रही है तो फिर इनकी जानकारी देने या न देने से क्या फर्क पड़ने वाला है। इसी प्रकार यह दस्तावेज यूनानी को भी भारतीय चिकित्सा पद्धति मानता है जो एक विवाद को पुनर्जन्म देने वाला कथन है।

हां, जिन दो बातों की ओर यह दस्तावेज विशेष ध्यान देता है, वे हैं
- (1) राष्ट्रीय पहचान का सुदृढीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण तथा (2) स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के योगदान को समाकलित करना।
लगता है इनका समावेश करवाने और इनके अनुसार पाठ्य सामग्री का पुनर्निर्माण करवाने के इरादों से ही इस पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण की आवश्यकता महसूस हुई, इसका कारण भी स्पष्ट है।

शिक्षा को कार्य संसार से जोड़ने के अन्तर्गत कहा गया है कि कार्य शिक्षा और व्यवसायिक शिक्षा हमारी विद्यालयी शिक्षा पद्धति के अभिन्न घटक हैं। इन क्षेत्रों में अलग-अलग सीमाओं तक सफलता प्राप्त हुई है। एक सोद्देश्य सार्थक शारीरिक क्रिया कलाप के रूप में कार्यानुभव से संबंधित वर्तमान नीति को पाठ्यचर्या के एक अंग के रूप में कायम रखा जा सकता है। पता नहीं

एनसीईआरटी के ये विद्वान शिक्षाशास्त्री विद्यालयी शिक्षा के यथार्थ से क्यों अनभिज्ञ है अथवा जान बूझकर आंखें मूंदे हुए हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो ये यह कदापि नहीं लिखते कि शारीरिक कार्य के प्रति सकारात्मक रूख विकसित करने के लिए कार्यानुभव एक अर्थपूर्ण कार्यनीति है। वास्तविकता यह है कि इसे स्कूलों में महज औपचारिकता निर्वाह के रूप में संपन्न कराया जाता है जिससे यह काम अपने आप में एक मजाक बन कर रह गया है। इसी प्रकार व्यावसायिक शिक्षा को भी लोगों द्वारा वह मान्यता नहीं मिली है जिसकी उम्मीद थी। अब आगे इन्हें जारी रखने की प्रतिबद्धता तो दर्शाई गई है पर कैसे इन्हें नया रूप देकर उद्देश्यानु रूप बनाया जायेगा इसका खुलासा कहीं नहीं किया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति की तरह वर्तमान प्रारूप भी सूचना का अनुसरण करने की बजाय अनुभव के आधार पर नये परिप्रेक्ष्य प्राप्त कराने पर जोर देता है और इसके लिए शिक्षक की परम्परागत भूमिका को बदलकर उसे मार्ग प्रशस्तकर्ता के रूप में प्रस्तुत होने के लिए कहता है। लेकिन अनेकों सेवारत प्रशिक्षण देने और शिक्षक में व्यवहारगत परिवर्तन लाने की कोशिशों के बावजूद उसका रवैया

प्रायः वही देखने में आता है जो दो तीन दशक पहले था । अब फिर इसके लिये प्रशिक्षण की रणनीति ही सुझाई गई है ।

दस्तावेज निर्माता मानते हैं कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में पले अलग अलग बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अध्यापन विधियां होनी चाहिये । शहरी और ग्रामीण और जनजातीय समाजों के बच्चों के लिए उनके अनुरूप विधियों से संप्रेषित ज्ञान ही ग्राह्य हो सकता है । इसलिये कथा वाचन, नाट्यकला, कठपुतली प्रदर्शन आदि का उपयोग इस क्रम में अधिक प्रभावी हो सकता है । यह सुझाव तो ठीक है परन्तु इसके लिये सारे विद्यालयीय कार्यक्रम की पुनर्रचना करनी होगी क्योंकि कक्षा कक्षीय शिक्षण में तथा नियमित कालांशों में ऐसा कर दिया जाना संभव नहीं होगा ।

इसके बाद सतत और व्यापक मूल्यांकन तथा शिक्षा एक आजीवन प्रक्रिया के पुराने संप्रत्ययों को फिर से दुहराया गया है । उनमें नया कुछ जोड़ने की या सुधारने की कोई कोशिश नहीं की गई है ।

इस सारी रूपरेखा की गंभीरता से समीक्षा करते समय बार बार यह लगता रहा है कि इसके लेखकों को विभिन्न स्तरों वाले विद्यालयों में दी जा रही शिक्षा की असलियत की जानकारी नहीं है। काश, इसके निर्माण में कुछ ऐसे शिक्षकों की भी मदद ले ली जाती जो चाहे शोध या अकादमिक डिग्रियों से कम लैस हों व शिक्षाशास्त्रीय ज्ञान की उनमें कमी हो पर प्राथमिक कक्षाओं से लेकर उच्च माध्यमिक कक्षाओं तक को कम से कम पिछले पांच-सात साल से पढ़ा रहे हों । जो दूरदराज के गांवों-ढाणियों से लेकर नगरों-महानगरों के अलग अलग तरह के विद्यालयों में कार्यरत हों। विभिन्न वर्गों के कुछ अभिभावक भी इस काम में लगते तो निश्चय ही यह दस्तावेज कृत्रिमता, दृष्टिहीनता और वस्तुस्थिति से कटा हुआ नहीं होता । कार्यानुभव और आन्तरिक मूल्यांकन को कई राज्यों के शिक्षा मंडल, उचित तरीके से क्रियान्वयन न होने के कारण, ठुकरा चुके हैं । व्यावसायिक शिक्षा को भी लोगों ने मन से स्वीकार नहीं किया है। मूल्यांकन की शिक्षा मात्र पुस्तकीय ज्ञान बनकर रह गई है और भी ऐसी अनेक योजनाएँ हैं जिन्होंने शिक्षण कार्य में सहयोग देने की बजाय व्यवधान पैदा किया है। फिर भी उनके कायाकल्प करने या उनकी जगह अन्य योजना लाने का कोई प्रावधान इसमें नहीं किया गया है। इससे साफ जाहिर होता है कि पाठ्यचर्या पुनरीक्षण के बहाने इधर उधर कुछ हेरफेर कर सरकार का नेतृत्व करने वाले एक प्रमुख दल ने अपनी विचारधारा को इसमें समाविष्ट करने की कोशिश की है और यह कोशिश भी इतने अस्वाभाविक व अतार्किक ढंग से की है कि इससे किसी को लाभ होता दिखाई नहीं देता ।

कहने को तो एनसीईआरटी एक स्वशासी संस्था है । लेकिन सरकारी अनुदान पर आश्रित रहने के कारण यह सदा शासन के नीति निर्देशों की अनुपालक रही है । इसके शीर्ष पदों पर बैठने के लिये अन्य योग्यताओं के अतिरिक्त एक योग्यता यह भी रही है कि अभ्यर्थी शासक दल की रीति-नीतियों के प्रति कितना वफादार तथा सरकारी मनसूबों को पूरा करवाने में कितना सहायक हो सकता है। पहले की सरकारें भी अपनी इच्छानुसार इस संस्था का उपयोग करती रही हैं इसलिये आज की सरकार ने ऐसा कर कोई अस्वाभाविक आचरण नहीं किया है । दोनों में अन्तर इतना रहा है कि पहले की सरकारें धर्मविशेष अथवा संस्कृति के प्रकार विशेष से प्रतिबद्ध न हो अधिक उदार, अधिक लोगों के लिए ग्राह्य भविष्योन्मुखी विचारधारा को पाठ्यचर्या में समाहित करने की कोशिशें करती थीं। उनका विरोध या आलोचना बहुत कम होती थी पर अब जो किया गया है । उस पर धर्म विशेष तथा उस अतीतजीवी सांस्कृतिक गौरव को महत्व देने की कोशिश की गई है जिसकी व्यावहारिकता आज के जमाने में संदेहास्पद है । क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय दबावों ने देश के परिवेश को इतना बदल दिया है कि अब पुनः सतयुग की ओर लौट जाना या रामराज्य के मिथक को सत्य कर दिखाना संभव नहीं रहा है ।

अन्त में एक बात और, शिक्षा का व्यवसायीकरण, उसे जीविकोन्मुख बनाना, छात्रों को नवीनतम तकनीकी ज्ञान से समृद्ध कर आने वाले समय की चुनौतियों का मुकाबला करने लायक बनाना और इसी तरह की जो बदलती अपेक्षाएँ शिक्षा से की जा रही हैं, क्या इनसे यह नहीं लगता कि इस तरह की शैक्षिक प्रक्रियाओं से गुजरने वाला भावी नागरिक इतना स्वकेन्द्रित, यथास्थिति का पोषक और उपभोक्ता संस्कृति का संवर्धक होगा कि उसे अपने समाज, असंस्कृति व देश से तथा समकालीन राजनीति से कोई सरोकार नहीं होगा । ऐसा नागरिक निरापद होने के कारण सत्तासीन और सत्ताकामी राजनेताओं, धर्म की आड में अपना व्यवसाय चलाने और अनुयायियों का शोषण करने वाले धर्माधिकारियों के लिये शुभ होता है । कहीं इस तरह की पाठ्यचर्याओं का निर्माण और पुनरीक्षण ऐसे ही अनुकूलित नागरिक तैयार करने की सुविचारित योजना का अंग तो नहीं है ? इस बात पर गहराई से विचार करने की जरूरत है । क्योंकि पाउलो फ्रेरे कहता है कि शिक्षा की उपयोगिता की एकमात्र कसौटी यह होनी चाहिये कि वह व्यक्ति की राजनैतिक चेतना को कितनी प्रखर या भोंथरी बनाती है । हमें भी अपनी शिक्षण प्रक्रिया का मूल्यांकन इसी कसौटी के आधार पर करना चाहिये ।◆